प्रेम-धर्मका स्वरूप

—जगद्‌गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रीतिके धर्म और अप्रीतिके धर्ममें बहुत भेद वर्तमान है। जो लोग सोचते हैं कि प्रेम-धर्म में भी कुछ अप्रीतिकर बातें हैं, तो जानना चाहिए उनके हृदयमें ही कुछ अप्रीतिकर धर्म वर्त्तमान है। आत्म-धर्म ही प्रेम धर्म या प्रीतिका धर्म है। मनोधर्मं ही अप्रीतिका धर्म है। विषयके प्रति आश्रय की नित्या शुद्धा अहैतुकी प्रीति और आश्रयके प्रति विषयकी शुद्धा प्रीति ही प्रेम-धर्म है। प्रेम-धर्ममें चिर ऐक्यतान (**Harmony**) वर्त्तमान है। प्रेम-धर्म याजनसे विच्युति होने पर ही हम लोग परस्पर परस्परके प्रति भोगबुद्धि करते हैं। कृष्ण ही एकमात्र मूल विषय हैं और सभी कार्ष्णा ही एकमात्र उसी मूल विषयके आश्रय हैं। सापत्न्य धर्मविशिष्ट मानव जातिके सभी व्यक्ति ही श्रीकृष्णके सेवक हैं। यह बात जान लेने पर मनुष्यको किसी प्रकारसे कोई असुविधा न होगी। उस समय जीव अपने अपने नित्य सिद्धस्वरूप अर्थात् अपनेको 'वैष्णव' जानकर यथार्थ सत्य की उपलब्धि कर सकते हैं। उस समय वैष्णवके साथ वैष्णवकी स्वाभाविक प्रीतिका उदय होता है।

जगतमें प्रीति-धर्म की बात नहीं है। सर्वत्र ही विरोधमय संघर्ष धर्म वर्त्तमान है। यहाँ एक व्यक्ति की प्रीतिमें दूसरे की अप्रीति होती है, एक व्यक्तिके लाभमें दूसरे की हानि होती है। उदाहरण के लिए—कोई व्यक्ति बकरी, मुर्गी या मछलीको प्रीतिके साथ भोजन करता है, तो उससे भोजन करनेवालेको सामयिक प्रीति होनेपर भी बकरी, मुर्गी या मछलीको प्रीति प्राप्त नहीं होती।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ प्रतियोगिता और हिंसा कर अर्थ संग्रह करता है, किन्तु उसके द्वारा दूसरे मनुष्योंको प्रीति नहीं होती। श्रीमन्महाप्रभुके भक्त लोग कदापि दूसरे व्यक्तिको उद्योग नहीं देते। किन्तु प्राकृत व्यक्ति लोग अखण्ड भगवद्- वस्तुके साथ विरोध कर खण्ड वस्तुके साथ विरोध करते हैं। हम लोग कई समय 'वरं देहि', 'धनं देहि', 'द्विषो जहि' आदि जागतिक लोगोंकी प्रीतिकर बातें कहकर अपनेको और दूसरेको वंचित करते हैं।

कृष्ण सभी जीवोंका सर्वक्षण आकर्षण कर रहे हैं। वे जड़ प्रपञ्च में हमारे निकट अर्चारूपसे और नाम के रूपसे प्रकटित हुए हैं। कपट व्यक्ति लोग षोडशोपचार-द्वारा पुत्रपौत्रादि प्राप्त करने के लिए अर्चा-विग्रहकी आराधना करते हैं। किन्तु उनका उद्देश्य ठाकुर सेवाके विनिमय में ठाकुरके निकट से कुछ प्राप्त करना। यह सेवा नहीं है। जिससे ठाकुरकी प्रसन्नता हो, वही सेवा है। जिससे अपनी सुख-सुविधा होती है, उसका नाम भोग है। वैष्णवोंको चित्तवृत्ति इस प्रकार है—

नास्था धर्मे न वसुनिचये
नैव कामोपभोगे,
यद्यद्भव्यं भवतु भगवन्
पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहुमतं
जन्मजन्मान्तरेऽपि,

त्वत् पादाम्भोरुहयुगगता
निश्चला भक्तिरस्तु॥

Translation: O Bhagavān, I have no regard for *varṇāśrama-dharma*, which consists of pious activities related to the body and mind. I have no desire to accumulate wealth, nor to enjoy material pleasure. Whatever reactions I am destined to suffer or enjoy for the activities of my previous life, let them come. My only prayer is that in birth after birth I may have unflinching prema-bhakti towards Your lotus feet.

अनुवाद—हे भगवान, मुझे वर्णाश्रम-धर्म में कोई रुचि नहीं है, जो शरीर और मन से जुड़े पवित्र कार्यों से बना है। मुझे धन इकट्ठा करने की कोई इच्छा नहीं है, न ही मुझे भौतिक सुख का आनंद लेने की इच्छा है। मेरे पिछले जन्मों मे किए हुए कार्यों के कारण मुझे जो भी दुख भोगना है या आनंद का अनुभव करना है, वे सब दुख और सुख आ जाए। मेरी एकमात्र प्रार्थना है कि जन्म-जन्मांतर में मुझे आपके कमल चरणों के प्रति अटूट प्रेम-भक्ति हो।

जो लोग जगत के वैचित्र्यसे मुग्ध हैं, या जो लोग मनोधर्मी हैं, वे लोग यह बात निष्कपट रूपसे कह नहीं सकते। "विनिमय में मैं कुछ चाहता हूँ"—ऐसी बात अभक्ति या अवैष्णव धर्मकी बात है। किन्तु वर्त्तमान समय में वैष्णव धर्मके नामपर ऐसा अवैष्णव धर्म ही प्रचलित है, भक्तिके नाम पर अभक्ति की ही चेष्टा सर्वत्र देखी जाती है। यदि हम कपटता कर कोटि जन्म तक अर्चना करें, कोटि जन्म तक मृदंग बजाय, कोटि जन्म तक कीर्त्तन करें और कपटताको ही धर्म कहकर प्रतिपादन करनेकी चेष्टा करें, तो हमारे ऐसे अर्चन, खोल बजाने और कीर्तन द्वारा हम लोग कर्ममार्गके ही पथिक हो पड़ गे, हमें भक्ति प्राप्त नहीं होगी। शुद्ध भगवद्भक्त की निष्कपट सेवाके बिना हमारा कोई कल्याण नहीं हो सकता। अर्चना और नाम-आराधना का नाम कर जगतमें कितनी कपटता चल रही है! भगवान् और भगवद्भक्तको ठगना ही भगवद्-भक्ति है—ऐसा कुछ लोग समझते हैं।

इस ग्राम की ही बात है। चारसौ वर्ष पहले प्रेमदाता श्रील नित्यानन्द प्रभुके सङ्गी श्रील सुन्दरानन्द प्रभुने इस स्थानमे अवतीर्ण होकर जो प्रचार किया था, इस समय उसीका एक विकृत प्रतिफलन देखा जाता है। अभी सङ्कीर्त्तन पिता श्रीगौर-नित्यानन्द को प्रीति के लिए हरि- सङ्कीर्त्तन नहीं होता। ओला निवारण, ग्रामको श्रीवृद्धि, रोग-निवारण आदि आत्मेन्द्रिय-तर्पण पर भोगके लिए ही हरिकीर्तनका बाहरी अनुष्ठान मात्र होता है।

भगवान्‌की सेवा और सेवाका अभिनय दोनों ही अलग अलग बातें हैं। भगवान्‌के अर्चा-विग्रह की सेवा जिससे भली प्रकार सम्पादित हो, उसके लिए विशेष चेष्टा करना अत्यन्त आवश्यक है। जो कोई व्यक्ति भगवान्‌की अर्चामूर्तिका सेवक नहीं हो सकता। दस रुपयेका कर्मचारी भगवान्‌की सेवा नहीं कर सकता, बीस रुपये देकर 'नाम' नहीं होता, पचास रुपये दाखिल करनेसे हरिकथाकी

वक्तृता नहीं होती, पाठ नहीं होता—उसमें भाषा-चातुरी या लोकरञ्जक आमोद-प्रमोद हो सकता है, वह भक्ति या वैष्णव धर्म नहीं है, उसका नाम भोग या कर्ममार्ग है।

आप लोग जानते हैं कि बुभुक्षा (भोग करनेको इच्छा) या मुमुक्षा (मोक्ष पानेकी इच्छा) द्वारा जगत् चालित हो रहा है। हम लोग कई समय त्यागीका वेश पहनकर भोगोके निकटसे कुछ भोग प्राप्त करनेके लिए दौड़ पड़ते हैं और भोगी लोग सोचते हैं—"क्या मैं त्यागीके निकटसे भोगकी कोई सामग्री ग्रहण करने में समर्थ हो सकूँगा?"

श्री आनन्दतीर्थ मध्व मुनिके चरित्रमें एक आख्यायिका का उल्लेख है। वे एकबार अपने शिष्योंके साथ बदरिकाश्रम जा रहे थे। महाराष्ट्र प्रदेश के महादेव नामक राजा जनसाधारण के उपयोगके लिए एक पुष्करिणी खुदवा रहे थे, वे आनन्दतीर्थजी को उस रास्ते से जाते देखकर उनसे पुष्करिणी खोदने के लिए कहने लगे। कर्मी राजा यह नहीं जानते थे कि साधारणके उपकारार्थ किये जानेवाले कार्यका सम्पादन फालतू व्यक्तियों द्वारा भी हो सकता है, किन्तु जो लोग आत्मविद् हैं, उनके हाथमें फावड़ा देनेसे जगतके परम हितमें कमी आ जाती है। जगतमें जो कुछ भी शिल्प, विज्ञान, कृषि, कला आदिकी उन्नति हो रही है, सभी कुछ वैष्णव सेवामें नियोजित होनेपर ही उनकी सार्थकता है। ये सभी वस्तुएँ भोगियोंकी सेवामें लगानेसे व्यर्थ श्रम और जगत- विनाश का कारणमात्र होता है। जब तक विष्णुवैष्णव की सेवा सर्वोत्कृष्ट है—ऐसी दृढ़ प्रतीति नहीं होगी, तब तक हमारा कदापि मङ्गल नहीं होगा। अतएव सर्वप्रथम अर्चामूत्ति की आराधना करना आवश्यक है। किन्तु अपने उदरभरण या अन्य किसी उद्देश्य के लिए नहीं।

हम लोग सभी जीवोंके द्वार-द्वार पर यही भिक्षा करते हैं कि आप लोग कृपापूर्वक प्रेम धर्मका उपलब्धि करें। यहाँके वैष्णव-वेशधारियोंका व्यवहार साधारण प्राकृत स्मार्त तो क्या, प्राकृत व्यवहारनिपुण व्यक्तियोंका भी समालोचनाका पात्र है। वे कहते हैं कि इन लोगोंका आचार वैष्णवोचित होना तो दूर रहे, साधारण मनुष्योचित भी नहीं है। अप्राकृत होना तो दूर रहे, प्राकृत व्यक्तियोंकी अपेक्षा भी घृणाके योग्य और राजद्वारमें दण्डनीय है। सब समय मङ्गल पथकी बाहरी रूपरेखा ही मङ्गलका पथ नहीं है। कपटता कर कई व्यक्ति यात्राके (नाटकाभिनयके) दलके नारद मुनि सज सकते हैं। किन्तु अर्चन कार्य यथार्थ रूपसे अच्छे व्यक्ति करें, यथार्थ रूपसे निष्कपट व्यक्ति कीर्तन करें; केवल सुर-मान-लय-ताल अच्छी तरहसे जाननेसे ही किसी व्यक्तिके मुखसे हरिनाम नहीं निकलता। जो व्यक्ति शुद्ध वैष्णव गुरुके पादाश्रय किये हैं, श्रीगुरुदेवके निकटसे वे ही कीर्त्तनाधिकार प्राप्त कर सकते हैं।